ISSN: 3107-7102
Chaitanya Samvad Interdisciplinary Journal of Research
© CSIJR | Vol. 2 | Issue 3 | September 2026
Available online at: https://chaitanyasamvad.com/

यूरोपीय और भारतीय नवजागरण

डा. नागेन्द्र प्रसाद सिंह पटेल

असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, धर्मसमाज महाविद्यालय, अलीगढ़

Email: nagendrasingh9208@gmail.com

Received: 29/07/2026 | **Accepted**: 28/08/2026 | **Published**: 30/09/2026

सारांश

यह आलेख यूरोपीय और भारतीय नवजागरण की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं, वैचारिक आधारों तथा सामाजिक प्रभावों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करता है। यूरोप में मध्यकालीन सामंतवाद, चर्च-नियंत्रित ज्ञान व्यवस्था और कुस्तुनतुनियाँ के पतन के बाद उत्पन्न परिस्थितियों ने पुनर्जागरण की भूमि तैयार की। इटली, विशेषतः फ्लोरेंस, में दांते, पेत्रार्का और वोकैचियो के साहित्यिक योगदान, प्राचीन ग्रीक-रोमन ग्रंथों की पुनर्खोज, मुद्रण तथा मानवतावादी चेतना ने मनुष्य को विचार और सृजन के केंद्र में स्थापित किया। आलेख यह भी रेखांकित करता है कि भारतीय नवजागरण को केवल उन्नीसवीं सदी तक सीमित करना उचित नहीं है। आलवार-नयनार परंपरा, सिद्धों, नाथों, रामानुजाचार्य, रामानंद, कबीर तथा अन्य संतों की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना ने जाति-भेद, पुरोहितवाद और रूढ़ियों के विरुद्ध जनपक्षधर आवाज विकसित की। भक्ति आंदोलन ने लोकभाषा, समानता और मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित किया, यद्यपि सामंती संरचनाओं तथा सांप्रदायिक संस्थानीकरण ने इसकी सीमाएँ भी निर्मित कीं। आगे, राजा राममोहन राय, विद्यासागर, दयानंद, सर सैयद, विवेकानंद, फुले, पंतुलु, नारायण गुरु और गांधी जैसे चिंतकों के माध्यम से आधुनिक भारतीय नवजागरण के बहुआयामी स्वरूप को समझाया गया है। निष्कर्षतः लेख नवजागरण को केवल साहित्यिक या राजनीतिक घटना न मानकर सामाजिक न्याय, स्त्री-मुक्ति, शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टि और मानवतावाद से संबद्ध दीर्घकालिक जनचेतना के रूप में देखता है। तुलना का आधार यह है कि दोनों परंपराओं में ज्ञान के अधिकार, सामाजिक सहभागिता और स्थापित सत्ता-संरचनाओं की आलोचना को महत्त्व मिला। इस प्रकार अध्ययन समानताओं के साथ-साथ यूरोपीय अनुभव की नगर-केंद्रित गति और भारतीय अनुभव की लोकधर्मी, दीर्घकालिक तथा विविधतापूर्ण प्रकृति को भी सामने लाता है। यह विवेचन नवजागरण की तुलनात्मक समझ को अधिक स्पष्ट और समग्र बनाता है।

मुख्य शब्द: यूरोपीय नवजागरण, भारतीय नवजागरण, मानवतावाद, भक्ति आंदोलन, सामाजिक सुधार, जाति-विमर्श, स्त्री-मुक्ति, लोकभाषा, आधुनिकता, गांधी

1. यूरोपीय नवजागरण : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यूरोप के इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन अर्थात् पाँचवी सदी के उत्तरार्द्ध से 15वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के काल को 'मध्यकाल' कहा जाता है । दूसरी–तीसरी शताब्दी से अरबों के लगातार आक्रमण से यूरोप की अस्मिता ख़तरे में पड़ गयी । किसी को भी ज्ञान और दर्शन की बात सोचने तक का अवसर ही न मिला और पूरा यूरोप अपनी अस्मिता को बचाए रखने के लिए, अपने को सामंती व्यवस्था में ढाल कर, बाहरी शक्तियों से लड़ने की ढाल बन गया । जिससे यूरोप अपनी संस्कृति-सभ्यता से दूर होता गया और धीरे–धीरे सामंतवाद के दलदल में फँसता चला गया । कुछ विद्वान इस काल को मध्यकाल तो कुछ अंधकार काल भी कहते हैं । वीरभारत तलवार लिखतें हैं, "पेत्रार्का ने प्राचीन ग्रीक–रोमन सभ्यता के बाद से रिनेसांस शुरू होने तक के बीच के काल को 'अन्धकार युग' कहा । 15वीं सदी के इतिहासकार फ्लेवियो बिओंदो (flavio biondo) ने इसे और भी व्यवस्थित करते हुए मध्यकाल कहा । इस तरह प्राचीन काल, मध्यकाल और रिनेसांस (जिसे आगे चलकर आधुनिक काल का आरंभ कहा गया ।) पहली बार विभिन्न कालों की अवधारणा सामने आयी और उनका मूल्यांकन ईसाईयत के आधार पर न करके उन कालों की भौतिक सभ्यता और संस्कृति के आधार पर होने लगा ।"

ईसाईयों के पवित्र स्थल जेरुसलम पर तुर्कों के अधिकार के परिणाम स्वरूप यूरोपीय देशों ने तुर्कों के ख़िलाफ़ धर्म युद्ध छेड़ दिया । हालाँकि इस युद्ध में यूरोपीय पराजित हुए लेकिन उनके बीच का अलगाववाद समाप्त हो गया । 1453 ई. में कुस्तुनतुनियाँ के पतन से धर्म-युद्ध भले ही समाप्त हो गया हो लेकिन इसका जो परिणाम निकला वह पूरे विश्व के लिए अनुकरणीय रहा ।

कुस्तुनतुनियाँ, यूरोप और एशिया के मध्य का एक मात्र स्थल मार्ग था और साथ ही यूरोप और एशिया के ज्ञान विज्ञान तथा संस्कृति का संगम भी । कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्कों के अधिकार और अत्याचार के कारण ईसाई बुद्धिजीवी और बड़े व्यापारियों ने वहाँ से भाग कर इटली में शरण ली । इटली में इन विद्वानों का ज़बरदस्त स्वागत हुआ तथा इनकी योग्यता के अनुसार इनको काम भी मिला ।

1.1. इटली, फ्लोरेंस और मानवतावादी चेतना

'पुनर्जागरण' शब्द का प्रयोग यूरोप के इतिहास के इसी समय यानी चौदहवीं से सोलहवीं सदी के काल खण्ड के लिए प्रयुक्त हुआ है । यूरोपीय पुनर्जागरण का लक्षण पहले-पहल इटली के फ्लोरेंस शहर में दिखाई पड़ता है, यह धीरे-धीरे पूरे यूरोप में फैल जाता है । इटली में पुनर्जागरण का लक्षण दिखाई देने के कई कारण हैं, उनमें प्रमुख कारण इटली की धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व्यवस्था थी, जहाँ यूरोप में ही नहीं संसार भर में धर्म आधारित शिक्षा व्यवस्था पर बल दिया जा रहा था, वहाँ इटली का यह कार्य क्रांतिकारी प्रयोग था । वीरभारत तलवार लिखते हैं, "यह मानववादी आन्दोलन इटली के सभी शहरों में और इटली के प्रभाव से आगे चलकर उत्तरी यूरोप के देशों में भी फैला पर इसका केंद्र फ्लोरेंस ही रहा । फ्लोरेंस के शासकों का मेडिची घराना पूरे उत्साह के साथ इस आन्दोलन में सक्रिय था । उसका महल फ्लोरेंस के सभी प्रतिभाशाली कलाकारों, लेखकों और मानववादियों का घर बन गया । ये सब लोग वहीं जमे रहते । पुराने ग्रीक ग्रंथों में से प्लेटो के ग्रंथों ने, खासकर उसके 'डायलॉग', बहुत प्रभावित किया ।"

पुनर्जागरण का केंद्र फ्लोरेंस इसलिए भी था कि यूरोपीय पुनर्जागरण के तीनों अग्रदूत–दांते (1265-1321 ई.), फ्रांसिस्को पेत्रार्का (1304-1374 ई.) और जिओवानी वोकैचियो (1313 -1375 ई.) ये इटली के फ्लोरेंस शहर से ही थे । दांते की रचना 'डिवाइन कामेडी' पुनर्जागरण काल की शुरूआती रचना है, इसमें मृत्यु के पश्चात् आत्मा द्वारा नरक एवं स्वर्ग के भ्रमण का चित्रण है । पेत्रार्का की रुचि प्राचीन भाषाओं के अध्ययन और उसके मानववादी पहलुओं को जन भाषा में समाज के समक्ष प्रस्तुत करना था तो वोकैचियो ने 'टेल' अर्थात् कहानियाँ लिखकर 14वीं सदी में इतालवी गद्य की शुरूआत की । वीरभारत तलवार इन रचनाकारों की जनभाषा की पक्षधरता को पुनर्जागरण का प्रमुख लक्षण मानते हैं, वे लिखते हैं कि "दांते, पेत्रार्का और वोकैचियो, तीनों ने प्राचीन शास्त्रीय भाषा लैटिन में भी रचना की, लेकिन उनकी प्रसिद्धि उनके इतालवी भाषा में लिखे साहित्य के लिए हुई । दांते चाहते तो सिर्फ लैटिन भर में लिख सकते थे जो पूरे यूरोप में पंडितों–विद्वानों के बीच ज़्यादा मान्य भाषा थी । दांते की कविता पर लैटिन के महान प्राचीन कवि वर्जिल का प्रभाव भी है । लेकिन दांते ने इतालवी भाषा में कविता लिखकर इटली में आधुनिक भाषा साहित्य की शुरूआत की । पेत्रार्का ने इतालवी में भी लिखा, पर ज़्यादा लैटिन में लिखा । उसने प्राचीन शास्त्रीय भाषा में लिखना ज़्यादा गौरवपूर्ण माना । "

ऐसा नहीं है कि पेत्रार्का के लैटिन भाषा में अधिक लिखने से उसकी प्रसिद्धि में कोई कमी आयी हो क्योंकि उसने अपने प्राचीन भाषा के ज्ञान का उपयोग प्राचीन भाषा और साहित्य के मानवतावादी रचनाओं को ढूँढ़ने में किया । पेत्रार्का ने सिसरो के 'लेटर्स टू एटीकस' ग्रंथ को ढूँढ़ निकाला, जिसे पढ़कर उसको पहली बार मानवता की पूर्णता का बोध हुआ । वीरभारत तलवार लिखते हैं, "रिनेसाँसा में पेत्रार्का की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्राचीन ग्रंथों की खोज का अभियान शुरू करने में थी । पेत्रर्का को प्राचीन किताबें ढूँढ़ निकालने, उन्हें पढ़ने और जमा करने का शौक पागलपन की हद तक था । ईसाई धर्म की दृष्टि से यह शौक़ बहुत ख़तरनाक था क्योंकि अगर कोई व्यक्ति ज्ञान की तरह-तरह की किताबें रखता और पढ़ता है तो वह चर्च द्वारा निर्धारित पवित्र धर्मग्रंथों के मार्ग से भटक सकता है । गौरतलब है कि मध्ययुग में ज्ञान के सभी स्रोतों पर चर्च का एकाधिकार होता था और सभी तरह की किताबें सिर्फ ईसाई मठों के पुस्तकालयों में होती थी पेत्रार्का ने चर्च के इस एकाधिकार को तोड़ डाला । चर्च ने ग़ैर–धार्मिक किताबों के प्रति लोगों में संदेह और शत्रुता का भाव कायम कर रखा था । पेत्रार्का ने लोगों को इन किताबों से प्रेम करना सिखाया, उन्हें अपना अंतरंग मित्र बनाना सिखाया । अपनी घुमक्कड़ ज़िंदगी में वह जहाँ भी गया, उसने दुर्लभ प्राचीन किताबों की खोज की ।"

पेत्रार्का और स्लुत्तती (जो पेत्रार्का का सच्चा उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ) के अथक प्रयास से पुराने ग्रंथ ढूँढ़ने की जो मुहिम चली वह जनसाधारण में खूब लोकप्रिय हुई । वीरभारत तलवार लिखते हैं कि, "संस्थान से ग्रीक भाषा सीखकर निकले कई इतालवी ग्रीस देश में गए और वहाँ से सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ खोजकर लाए । इन ग्रंथों में होमर, अरिस्टोफैनीज, देमाँस्थानीज और प्लेटो के ग्रंथों के अलावा सफोक्लिज तथा अन्य ग्रीक नाटककारों के नाटकों की पांडुलिपियाँ भी शामिल थीं । विला डूरां के अनुसार जब ये मानवतावादी इन ग्रीक ग्रंथों को लेकर इटली वापस लौटते तो उनका स्वागत विजेता सेनापतियों की तरह किया जाता । नगर के राजकुमार उनकी यात्राओं का खर्च पूरा करने के लिए उन्हें थैलियाँ भेट करते ।"

1.2. इतालवी पुनर्जागरण के चरण

इटली के पुनर्जागरण में इन दोनों (पेत्रार्का और वोकैचियो) के महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए इनके जीवन काल को पुनर्जागरण का प्रथम काल घोषित किया गया, जबकि दांते को संक्रमण काल का रचनाकार माना गया । लईक अहमद अपनी किताब 'आधुनिक विश्व का इतिहास' में लिखते हैं "1375 ई. में वोकैचियो की मृत्यु के पश्चात् इटेलियन साहित्य के पुनर्जागरण का प्रथम चरण समाप्त होता है ।

पेत्रार्क और वोकैचियो का यह युग ट्रिसेंटो (trisento) के नाम से अभिहित किया जाता है और यह शब्द 1300 ई. के पश्चात् प्रारम्भ होने वाले युग का द्योतक है ।"

इटली के पुनर्जागरण को विद्वानों ने तीन खण्डों में विभाजित कर अध्ययन किया है, इसका उल्लेख लईक अहमद अपनी किताब 'आधुनिक विश्व का इतिहास' में करते हैं । पहला काल ट्रीसेंटो है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, दूसरा काल क्वाट्रेसेंटो (quattrocento) है इसकी विशेषता यह है कि इस काल में यूनानी भाषा और साहित्य के अध्ययन पर जोर दिया गया और इसी समय से कुस्तुनतुनियाँ से विद्वानों की आवाजाही शुरू हो गयी थी । 1313 ई. में यूनानी विद्वान् मैनुअल क्रिसालोरस वेनिस गया और उसके साथ उसके अनेक साथी भी इटली गए । इससे इटली के विद्वानों में यूनानी भाषा और संस्कृति के अध्ययन में रुचि बढ़ी जिओवानी आरिस्पा (jiovani aurispa) ने 1413 ई. से 1423 ई. के बीच लगभग 250 पुरानी किताबों पर काम किया और इस प्रकार सोफोक्लीज (sophocles) युरिपाइड (euripides), थ्युसीडाइडस (thucydides) आदि विद्वानों के ग्रन्थ आधुनिक विश्व के सामने आये । तीसरे काल को सिनक्वेसेंटो (cinquecento) कहा जाता है जिसका आरंभ 1500 ई. से माना जाता है । इस काल की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन और अर्वाचीन प्रभावों को मिश्रित कर मौलिक प्रभावों को प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति रही है ।

1.3. यूरोपीय नवजागरण के प्रभाव और स्वरूप

यूरोप में 1453 ई. में कुस्तुनतुनियाँ के पतन भर से यूरोप में पुनर्जागरण आ गया यह कहना आधा सच है । ऊपर हम 1453 की घटना से पहले इटली में दांते, पेत्रार्का और वोकैचियो के साहित्यिक और सांस्कृतिक अवदान की बात कर चुके हैं । जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाकार पुनर्जागरण की भूमि पहले ही तैयार कर चुके थे । कुस्तुनातुनियाँ के पतन से वहाँ से पलायन किए विद्वानों ने पुनर्जागरण के क्षेत्र में क्रांति ला दी ।

इन विद्वानों ने (कुस्तुनतुनियाँ से गए विद्वानों ने) पहले से तैयार भूमि पर विज्ञान और चिकित्सा के क्षेत्र में क्रांति ला दी । व्यापारिक मार्ग की खोज के क्रम में अमेरिका (1492ई०) तथा भारत (1498 ई०) जैसे सामरिक महत्त्व के बाजार और कच्चे माल उत्पादक देश मिले, जो औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति को आगे बढ़ाने में सहायक हुए । सन् 1454 ई० में कागज एवं छापेखाने के अविष्कार ने तो जन सामान्य के लिए भी शिक्षा सुलभ कर दी । अन्य भाषाओं के साहित्य और इतिहास का खूब अनुवाद हुआ जिससे लोग अच्छे और बुरे में भेद समझने लगे तथा उनमें तर्क शक्ति का विकास हुआ ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि यूरोपीय पुनर्जागरण के केंद्र में मानवतावाद था, इसमें ईश्वर को नहीं बल्कि मनुष्य और उसके व्यवहार को केंद्र में रखा गया । मानवतावाद से प्रभावित युग में कला-विज्ञान तथा हर तरह की बौद्धिक एवं व्यावहारिक गतिविधियाँ मनुष्य की जाँच-परख की ओर उन्मुख हुई । ईश्वर से संबंध रखने वाले धर्म शास्त्र के स्थान पर ऐसे दर्शन का विकास हुआ, जिसकी दिलचस्पी मानव के स्वभाव तथा उसकी परिस्थिति में थी । पुनर्जागरण काल में ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य दुनियाँ के स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ । पुनर्जागरण कालीन लोगों ने अपने यूनानी तथा रोमन पूर्वजों की तरह मानव रूप का सुन्दरतम वस्तु के रूप में गुणगान किया और यह बताया की मानव बुद्धि हर शक्ति की योजना करने में सक्षम है । मानवतावाद ने न सिर्फ जनसाधारण का, अपितु एक व्यक्ति का भी गुणगान किया है अत: व्यक्तिवाद ने मानव के स्वाभिमान को मज़बूत किया ।

2. भारतीय नवजागरण : भक्ति और मानवतावाद की परंपरा

भारत में मानवतावाद की अविरल परम्परा हमें आलवार (वैष्णव) एवं नयनार (शैवों) के यहाँ दिखती है । जब पूरा यूरोप अंधकार युग में जी रहा था । उस समय अलावारों और नयनारों ने छठी से दसवीं सदी तक भक्ति का विस्तार किया और इन भक्तों ने भक्ति के माध्यम से पुरोहित वर्ग के वर्चस्व को चुनौती देने की परम्परा की शुरूआत की जो पूरे भारत में अविरल रूप से चलती रही । ये संत वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे और जनसामान्य की भाषा में रचना करते थे । लेकिन ध्यान देने योग्य यह है कि ये संत सगुणोपासक के साथ–साथ बौद्ध धर्म के विरोधी भी थे । इनका समाज में कितना प्रभाव था, इसका पता 945 ई. के एक अभिलेख से चलता है । इन संतों के सम्मान में शासकों ने मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ तक बनवायी । 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्' कक्षा बारह के इतिहास की पाठ्य पुस्तक 'भारतीय इतिहास के कुछ विषय - भाग 2' में लिखा है कि "तमिल भक्ति रचनाओं की मुख्य विषयवस्तु बौद्ध और जैन धर्म के प्रति उनका विरोध है । विरोध का स्वर नयनार संतों की रचनाओं में विशेष रूप से उभरकर आता है । इतिहासकारों ने इस विरोध की व्याख्या करते हुए यह सुझाव दिया है कि परस्पर विरोधी धार्मिक समुदायों में राजकीय अनुदान को लेकर प्रतिस्पर्धा थी ।...नयनार और आलवार संत वेल्लाल कृषकों द्वारा सम्मानित होते थे । इसलिए आश्चर्य नहीं कि शासकों ने भी उनका समर्थन पाने का प्रयास किया ।...945 ई. के एक अभिलेख से पता चलता है कि चोल सम्राट परांतक प्रथम ने संत कवि अप्पार संबंदर और सुंदरार की धातु प्रतिमाएँ एक शिव मंदिर में स्थापित करवायी । इन मूर्तियों को उत्सव में एक जुलूस में निकाला जाता था ।"

इन संतों का विरोध आठवीं-नवी सदी के शंकराचार्य ने किया । जिनके मत का मूल आधार ब्रह्म सत्यम, जगत मिथ्या था । जिसको उन्होंने 'अद्वैतवाद' नाम दिया । उनका यह मत वर्ण व्यवस्था को मज़बूत करने के पक्ष में था, इस मत का उद्देश्य तत्कालीन समाज में शूद्र एवं दलित भक्तों की लोकप्रियता पर कुठाराघात करना था । क्योंकि शूद्रों ने ब्राह्मणों के भगवान को अपनाकर समाज में व्याप्त भेदभाव को दूर करने पर बल दिया और समाज में इनके कार्य को खूब सराहा भी गया । शूद्रों की लोकप्रियता से घबराए शंकराचार्य ने

सगुण ईश्वर की सत्ता को मानने से ही इंकार कर दिया और अपने सबल तर्कों से एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित किया । शायद शूद्रों के भगवान के आश्रय में जाने से ईश्वर का एक रूप ही उस समय बचा और देवता शूद्रों के नाम लेने के कारण अपना देवत्व खो बैठे, तभी तो शंकराचार्य ने एकेश्वरवाद की परिकल्पना लायी । के. दामोदरन ने लिखा है कि " यदि ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और यदि समस्त घटनाएँ मानव प्राणियों सहित समस्त वस्तुएँ ब्रह्म ही हैं, तो क्या इस निष्कर्ष पर पहुँचना गलत होगा कि सभी मनुष्यों को बराबर माना जाना चाहिए ? क्या एक ही ब्रह्म ब्राह्मण और शूद्र में मौजूद नहीं है ? तब सामंती समाज में सामाजिक असमानताओं और जाति–भेदों को किस आधार पर न्याय संगत ठहराया जा सकता है ? शंकराचार्य को यह समझते देर नहीं लगी कि इस तरह के तर्कों का सहारा लेने पर लोग जिस दिशा में पहुँचेंगे, वह बहुत रुचिकर नहीं होगी ।...शंकराचार्य ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि केवल उच्च कुल में उत्पन्न लोग ही आत्मा और ब्रह्म के बीच अभिन्नता को समझ सकते हैं ।"

2.1. सिद्ध, नाथ और सामाजिक प्रतिरोध

उत्तर भारत में सिद्ध सक्रिय थे, जो बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय से सम्बंधित थे । मन्त्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले योगियों को सिद्ध कहा गया । सिद्ध वैदिक धर्म की अवहेलना करते थे और साथ ही सामाजिक कुरीतियों, जातिगत भेद-भाव और वर्ण-व्यवस्था की घोर निंदा कर रहे थे । कण्डहपा पुरोहितों से कहते हैं-

"आगम वेअ पुराणे, पण्डित मान बहंति ।
पक्क सिरिफल अलिअ, जिम वाहेरित भ्रमयंति ।।"

इन सिद्धों पर भोगवादी होने का आरोप लगाया गया और उसे प्रचारित भी किया गया जिससे धीरे–धीरे जनसामान्य की आवाज बने सिद्धों की आवाज हमेशा के लिए दबा दी गयी । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन सिद्धों नाथों और जैनों के साहित्य को साम्प्रदायिक कह कर साहित्य में स्थान न देने के पक्षधर थे, उन्होंने लिखा है कि "उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई सम्बन्ध नहीं । वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं । उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते ।"

सिद्ध कवि जनसाधरण के बीच बहुत लोकप्रिय थे । सिद्धों के समकालीन दो और विचारधाराएँ थीं जैन और नाथ, पर ये अपनी उच्च नैतिकता और धार्मिक आदर्श के चलते जनसामान्य में लोकप्रिय न हो सके ।

2.2. रामानुजाचार्य, रामानंद और संत परंपरा

आलवार भक्तों से प्रभावित बारहवीं सदी के रामानुजाचार्य ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' मत की स्थापना की । ये ब्रह्म और जीवात्मा की अलग-अलग सत्ता मानते हैं । इन्होंने भक्ति का दरवाजा सबके लिए खोल दिया, फिर भी अपने पूर्वजों के संस्कार से मुक्त नहीं हो पायें । रामानुजाचार्य ने यह निर्देश दे रखा था कि दलित भक्त, भक्ति के समय साथ रह कर भक्ति करेंगे, भोजन के समय अपनी जाति की पंगत में ही बैठकर भोजन करेंगे ।

तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य बड़े दार्शनिक हुए, ये भक्ति के साथ–साथ सामाजिक समानता की भी बात करते हैं । इनका सिद्धांत 'द्वैताद्वैतवाद' के नाम से जाना गया जो तत्कालीन समय में खूब लोकप्रिय रहा । यह वही समय है जब सामंतवाद के विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है । रामविलास शर्मा लिखते हैं, "राज्यसत्ता के जिस स्वरूप को निरंकुश कहा जाता है, वह 13वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी का चलाया हुआ था ।...अलाउद्दीन के समय में राज्य सत्ता की एक विशेषता यह हुई सामंतों पर उसका नियंत्रण, दूसरी विशेषता हुई नौकरशाही का प्रसार, तीसरी विशेषता हुई स्थाई सेना, चौथी विशेषता हुई उत्पादकों से सीधा संपर्क । इस चौथी विशेषता के साथ शासनतंत्र में वित्त की प्रधानता हुई ।...अलाउद्दीन की वित्तीय नीति बिखरे हुए सामंतों के हित में नहीं थी, वह व्यापारिक पूँजीवाद के हित में थी जो अर्थतंत्र में वित्त की प्रधानता का कारण था ।"

सामंतवाद के गर्भ से व्यापारिक पूँजीवाद का जन्म होता है और यही पूँजीवाद जाति का निर्माण करता है, जो किसी भी शोषित समूह के लिए बहुत आवश्यक है । जाति का निर्माण ही सच्चे अर्थों में अपनी अस्मिता की पहचान है जो किसी भी राष्ट्र की रीढ़ है । जाति की अवधारणा को बताते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं, "अपनी आवश्कताओं के पूर्ति के अलावा जब किसी जनपद के लोग विनिमय के लिए माल तैयार करते हैं, तब आर्थिक संबंधों का विस्तार होता है, जनपदों का अलगाव ख़त्म होने लगता है । विनिमय के विस्तार के साथ वित्त का चलन होता है ।...जब तक व्यापार का उद्देश्य संपत्तिशाली वर्गों के वैभव–विलास की सामग्री जुटाना होता है, तब तक उसका दायरा सीमित रहता है । जब वह सामान्य जनों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए सामग्री जुटाता है, तब उसका दायरा बड़ा होता है, तभी नए आर्थिक संबंधों का निर्माण होता है । केवल नगरो में नहीं, नगरों और गाँवों के बीच विनिमय का विकास होता है । नगर जिन आर्थिक संबंधों का प्रसार करते हैं, उनकी लपेट में गाँव भी आ जाते हैं । इस तरह नए रूप का जन्म होता है । इसे हम जाति कहते हैं ।"

इस बदलती हुई परिस्थिति में कुछ धर्मगुरुओं ने भी इस बदलाव का स्वागत किया है । उन्हीं में रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में रामानंद हैं, जिन्होंने जाति भेद से ऊपर उठकर सभी जाति धर्म के लोगों को अपना शिष्य बनाया । कुछ उच्च वर्गीय विद्वान रामानंद को अपना मानकर उनके मूल संस्कारों को उनका न मानने की ठान रखी है । इस विवाद पर पुरुषोत्तम अग्रवाल ने 'अकथ कहानी

प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय' किताब लिखकर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के समय पर्याप्त शोध सामग्री सामने नहीं आ सकी थी, जिसके चलते उन्होंने अपने इतिहास ग्रन्थ में संदिग्ध संस्कृत रचनाओं को रामानंद की रचना मान लेते हैं, जबकि रामानंद के निर्गुण पद जो 'गुरुग्रंथ साहब' में संकलित है को किसी दूसरे रामानंद की रचना बताते हैं ।

परशुराम चतुर्वेदी संस्कृत विद्वान रामानंद को कबीर के गुरु होने की संभावना से इंकार कर देते हैं । इन्हीं वजहों की पड़ताल करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल अपने शोधपत्र 'द्वितीय सेतु जागरण कियो'...आख्यान आकाश धर्मा गुरु रामानंद का' में अपने सबल तर्कों से रामानंद को कबीर का गुरु सिद्ध करते हैं और कहते हैं - "ऐसे ठीक–ठाक काल क्रम बोध के साथ भविष्य–पुराण रामानंद संबंधी पारम्परिक मान्यताओं और नव प्रचारित दावों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है । रामानंद का जन्म–स्थान प्रयाग को बताते हुए, 'भविष्य पुराण' उनके चमत्कारिक व्यक्तित्व और बारहों शिष्यों का वर्णन करता है – सातवें अध्याय में । छठे अध्याय में तैमूर के आक्रमण का वर्णन कर चुकने के बाद । भारत पर तैमूर का आक्रमण 1399 ई. में हुआ था 1299 में नहीं ।"

इससे तो स्पष्ट है कि रामानंद का समय पंद्रहवीं सदी ठहरता है तो फिर रामानंद का समय तेरहवीं सदी ठहराने के पीछे का क्या कारण रहा ? पुरुषोत्तम अग्रवाल इसकी पड़ताल करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ विद्वान् रामानंद को आचार्य बनाने की ठान लिए हैं जैसे भगवदाचार्य । भगवदाचार्य कहते हैं - " यह सब तूफान क्यों ? क्या तुम यही चाहते हो कि संसार यह जान ले कि श्री रामानंद स्वामी निरक्षर थे और केवल टूटी-फूटी हिन्दी जानते थे? परन्तु मेरे यार ! तुम्हारे जैसे बदमाशों को हम भी नाक से चना चबवायेंगे । जब तक पृथ्वी पर एक भी श्रीरामानंदी जीवित रहेगा तब तक श्रीरामानंद स्वामी जी को कोई भी निरक्षर सिद्ध न कर सकेगा ।"

हालाँकि बाद में भगवदाचार्य ने 'आनंद भाष्य' को जाली ग्रन्थ कहा । श्रेष्ठतावादी मानसिकता, जो अपने को श्रेष्ठ साबित करने के लिए इतिहास से भी खिलवाड़ करने में नहीं झिझकती । पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं, "औपनिवेशिक सत्ता और ज्ञानकांड द्वारा भारतीय इतिहास और परम्परा के ब्राह्मणीकरण को कुछ ब्राह्मणों का उत्साही समर्थन प्राप्त था । यह मनवाने के लिए इन ब्राह्मणों ने पूरा जोर लगा दिया कि हिन्दू परंपरा को जानने–समझने के प्रमाणिक स्रोत सिर्फ संस्कृत में है । देशभाषा स्रोत तभी गंभीरता से लिए जा सकते हैं जबकि वे संस्कृत स्रोतों का अनुवाद या अनुगमन करें । वास्तविकता इसके विपरीत थी । औपनिवेशिक काल में आए संवेदना–विच्छेद के पहले कबीर देशभाषा में रचकर ही सारे समाज में सम्मानित थे । रामानंद को सम्मान देने के लिए 'शास्त्रसिद्ध आचार्य' या 'आनंदभाष्यकार' होना ज़रूरी नहीं माना गया ।"

रामानंद के शिष्य कबीर दास थे जो निर्गुण संत परम्परा के प्रतिनिधि संत माने जाते हैं । रामानंद को आचार्य सिद्ध करने के बाद कबीर को भी विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद से प्रभावित होने का दंभ भरा जाने लगा । भारतीय समाज में ग़ज़ब की रवायत है कि जब तथाकथित शूद्र दक्षिण में सगुणोंपासक थे तो उन्हें रोका गया और एकेश्वरवाद को प्रतिष्ठित किया गया । जब भक्ति काल में निर्गुण पंथ के संत (जो निम्न जाति से आते हैं) एकेश्वरवाद के माध्यम से अपने मत का प्रचार-प्रसार करने लगे तो पहले उन्हें भरसक रोकने का प्रयत्न हुआ जब उसमें सक्षम नहीं हुए और जन सामान्य में उनकी लोकप्रियता को देखते हुए, उन्हें अपने विचार से प्रभावित बताने लगे । संतों की लोकप्रियता से प्रभावित कुछ आलोचक भी संतो को सगुणधारा के ब्राह्मण मतों से प्रेरित मानते हैं । लल्लन राय अपने एक लेख में लिखते हैं- " यदि कबीर के निर्गुण पंथ को किसी परम्परा से जोड़ना ही है तो उसे संत ज्ञानेश्वर, नामदेव या फिर नाथों–सिद्धों की परम्परा से भी जोड़ा जा सकता है । यदि उसे और पीछे ले जाना है तो दक्षिण के आलवार भक्ति से भी जोड़ा जा सकता है ।"

मुक्तिबोध आलवार संतों को भक्ति आन्दोलन के पृष्ठभूमि के रूप में देखते हैं, वे लिखते हैं- "भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत से आया । समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषदवादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन आलवार संतों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया । "

जबकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल पूरे भक्तिकाल को दक्षिण भारत से प्रभावित मानते हैं, जो भक्ति के रूप में सामंतवाद की विरोधी प्रवृत्ति अविरल गति से चलती रही । वे लिखते हैं, "भक्तिकाल का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदयक्षेत्र में फ़ैलने के लिए पूरा स्थान मिला ।"

2.3. भक्तिकालीन नवचेतना और उसकी सीमाएँ

जब यूरोप में पुनर्जागरण अपने चरम पर था, उस समय भारत में भक्ति आन्दोलन । यूरोपीय पुनर्जागरण का मुख्य उद्देश्य मध्यकाल के बाह्याडम्बरों के ख़िलाफ़ मानवतावाद और मनुष्य को महत्त्व देना था । भारत में यह काम भक्तिकालीन संत कर रहे थे । मुक्तिबोध लिखते हैं कि –"पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए । कबीर, रैदास, धर्मदास, नाभा, सिप्पी, सेना, नाई आदि महापुरुष ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की । समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी हुआ ।"

संतों का पुरोहित वर्गों ने किस हद तक विरोध किया इसका उदाहरण मुक्तिबोध देते हुए लिखते हैं कि, "निचली जातियों के आत्म प्रस्थापना के उस युग में कट्टर पुराण पंथियों ने जो-जो तकलीफें इन संतों को दी है, उनमें ज्ञानेश्वर जैसे प्रचंड प्रतिभावान संत का जीवन, अत्यंत करुण, कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया । उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' (गीता का मराठी रूपांतर) तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा ।"

कबीर के बाद अच्छे संतों में न कमी आयी न ही उनकी लोकप्रियता में, पर इन संतों में मठ और सम्प्रदाय बनाने की प्रवृत्ति इस कदर बढ़ी कि ये अपने ख़िलाफ़ चल रहे दुष्प्रचार पर न ध्यान दिए और न ही जनता की मूल समस्याओं की तरफ़ ध्यान दे सके । निर्गुण आचार्य अपनी लोकप्रियता को भुनाते हुए जगह-जगह मठ और नए-नए संप्रदाय बनाने में मशगूल रहे । शंभुनाथ लिखते हैं, "यह विडंबना ही है कि कबीर, गुरुनानक, रैदास, दादू, सेना, पीपा, दरिया साहब, लालदास, गरीबदास आदि के बाद हिन्दी प्रदेश में संत साहित्य का विभिन्न साम्प्रदायिक पंथों में संकीर्ण विभाजन हो गया । इस नई चेतना और गतिशील आलोचनात्मक विवेक को विकसित करने वाले नए कवि दलित और मुसलमान समुदाय से फिर पैदा नहीं हुए । धार्मिक पाखंड और कट्टरता के ख़िलाफ़ वैसी रचनात्मक आवाज फिर सुनाई नहीं पड़ी । कबीर और तुलसी के समय के बीच करीब सौ सालों का फ़रक है । कबीर के बाद धर्माचार्यों ने इस लंबी कालावधि में अपने को संगठित कर लिया था । इसलिए तुलसी नरम थे । कट्टरता का युग फिर आरंभ हो गया था । संत परंपरा में भी इसकी प्रतिध्वनि गूँजी । दादू पंथियों ने कबीर को तिलांजलि दे दी, कबीरपंथियों ने दादू को । रैदासपंथी भूलकर भी कबीर का नाम नहीं लेते, कबीरपंथी रैदास को अपना नहीं मानते । संत साहित्य मठों में विभक्त हो गया ।"

कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास और नंददास जैसे बड़े भक्त कवियों ने निर्गुण का विरोध बहुत शालीन और तर्क पूर्ण ढंग से भ्रमर गीत में करते हैं । वे भले यह कहते हैं कि यह मेरा मानना है, लेकिन वे तत्कालीन समाज को भी अपना मत मनवाने में सफल रहे हैं-

"रूपरेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु, निरालंब कित धावै ।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं, सूर-सगुन-पद गावै ।।"

कृष्ण भक्ति के प्रति निम्न वर्ग के आकर्षण का मुख्य कारण यह था कि उनके कबिलाई देवता का यशोगान सभी उच्चकुलीन लोग कर रहे थे तो भला वे पिछे क्यों रहें ? डा. लल्लन राय लिखते हैं, " लेकिन कृष्ण काव्य के अंतर्गत 'भागवत पुराण' के प्रभाव से पौराणिक कथाओं के अत्यधिक समावेश के माध्यम से अवतारवाद की स्थापना द्वारा वर्णाश्रमधर्मी जातिवाद के लिए ठोस आधार बना । इसका सहारा लेकर गोस्वामी तुलसीदास को वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई दिक्कत नहीं हुई । तुलसीदास तक पहुँचकर उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन मध्ययुगीन सामंती समाज की दो विरोधी–सांस्कृतिक शक्तियों की खुली टकराहट बनकर सामने आता है, जिसके माध्यम से दो विरोधी–सांस्कृतिक अभिरुचियाँ और परस्पर विरोधी सामाजिक हितों की भी अभिव्यक्ति हुई है ।"

तुलसीदास, कबीर मतावलंबियों से चिढ़कर उनके बारे में लिखते हैं -

"साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान ।।
बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि ।
जानहिं ब्रह्म सा बिप्रवर आँखि देखावहिं डाटि ।।"

ऐसा नहीं है कि तुलसीदास दलित वर्ग से घृणा करते थे, उक्त कथन कबीर के प्रभाव में लिखा जान पड़ता है । तुलसीदास का साहित्य समन्वय का साहित्य है । शंभुनाथ लिखते हैं, "भक्ति आन्दोलन परम्परा की अखंडता में आस्था रखता था । तुलसी 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' भक्ति के पक्षधर थे तो कबीर भी शब्द साधना की महत्ता निरूपित करते हुए कहना नहीं भूलते "शब्दै वेद पुराण कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै ।" जिस तरह निराकार ब्रह्म का प्रभाव राम–कृष्ण भक्त कवियों पर था, अवतारवाद का प्रभाव संत कवियों पर था । कबीर पर था । कबीर कहते हैं "अजमल गन गनिका पतित करम कीन्हा । तेऊ उतर पार गए राम नाम लीन्हा ।" वह राम और कृष्ण का फ़रक ज़रूर भूल जाते हैं पर अवतारवाद को टाल नहीं पाते । दूसरी ओर तुलसी ज्ञान की महत्ता बताते हैं– "कहहिं संत मुनि वेद पुराना । नाहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना ।"

भक्तिकाल के सभी भक्त कवियों का मूल उद्देश्य समाज में व्याप्त बुराईयों से समाज को अवगत कराना रहा है । हाँ सगुण भक्त अपने इष्टदेव की ख़िलाफ़त नहीं सुन पा रहे थे, उन्होंने भी निर्गुण पर दोषारोपण किया । भक्तिकाल के सभी भक्तों का उद्देश्य एक था पर रास्ते अलग-अलग थे । ये सभी संप्रदाय एक दूसरें पर हावी होना चाहते थे, उनको नष्ट करने के लिए नहीं बल्कि जनता में लोकप्रिय होने के लिए और अपने विचार की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए भी । इन विशेषताओं का उल्लेख कर, रामविलास शर्मा ने स्पष्ट कहा है, "भक्ति साहित्य जातीय ही नहीं है, वह जनवादी भी है । पूँजीवादी विकास के बिना जाति का निर्माण नहीं होता, पूँजीवादी विकास के नेता होते हैं पूँजीपति; इसलिए यह धारणा आसानी से बन जाती है कि जातीय आन्दोलन विशुद्ध पूँजीवादी प्रपंच है । इस धारणा के प्रभाव से इस आन्दोलन में किसानों और कारीगरों की भूमिका उपेक्षित रहती है, जातीय संस्कृति के जनवादी स्वरूप की अनदेखी की जाती है ।"

भक्ति काल की इतनी उर्वर भूमि आख़िर बंजर कैसे हुई ? इसके कारणों की पड़ताल करते हुए हमें कई कारण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । जैसे कृष्णभक्ति काव्य, कृष्ण काव्य को इसलिए लोकप्रियता नहीं मिली की इसके विचारक बड़े विद्वान थे बल्कि लोकप्रियता इसलिए मिली क्योंकि कृष्ण कबिलाई संस्कृति के आराध्य थे, अपने इष्टदेव के प्रति जनसामान्य का आकर्षण स्वाभाविक था । सूरदास, नन्ददास जैसे कवि कबिलाई संस्कृत को दिखाते हुए, भ्रमरगीत परम्परा के माध्यम से संतों के मतों का खंडन करते हैं । कृष्ण भक्त कवियों के साथ वही जनता है जो संतों का खुलकर समर्थन करती थी । मुक्तिबोध मुग़ल शासकों के शासन में भारत की उन्नति और अवनति की पड़ताल करते हुए लिखते हैं, "अकबर के अनंतर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने राष्ट्रीय राजतंत्र बराबर बनाये रखा । किन्तु, शाहजहाँ के अंतिम

काल में, संकीर्णतावादी मनोवृत्तियों ने सिर उठाया । औरंगजेब ने, राष्ट्रीय राजतंत्र को बलपूर्वक धर्मतंत्र बना दिया । फलस्वरूप, उसकी मृत्यु के उपरांत मुग़ल साम्राज्य का विघटन आरंभ हुआ । भारत अनेक राजनैतिक केन्द्रों में बंट गया । मराठा तथा सिख शक्ति का अभ्युत्थान हुआ । इस काल में वाणिज्य व्यापार, साहित्य शिल्प तथा चित्रकला का विशेष उत्कर्ष हुआ । तत्कालीन भारत अत्यंत वैभवशाली तथा कला संपन्न देशों में था ।"

एक और प्रमुख कारण तत्कालीन अर्थव्यवस्था है जो मुख्यतः कृषि पर आधारित थी । कृषि आधारित जीवन शैली अपने में सामंती व्यवस्था है । ओमप्रकाश वाल्मीकि की प्रसिद्ध कविता 'ठाकुर का कुआँ' स्वतः ही याद आती है -

"चूल्हा मिट्टी का/मिट्टी तालाब की
तालाब ठाकुर का/भूख रोटी की
रोटी बाजरे की/बाजरा खेत का/
खेत ठाकुर का ।"

जब इस समय यह दशा है तो रीतिकाल में क्या रही होगी, इसका सिर्फ अनुमान लगाया जा सकता है । कृषि आधारित अर्थव्यवस्था होने के कारण इस व्यवस्था के संचालक सामंतों ने अपनी सामंती सीमाओं के अंतर्गत रह रहे निम्न आय वर्ग वालों की समृद्धि के सभी द्वार हमेशा के लिए बंद कर दिये । आपका प्रश्न यह हो सकता है की फिर भक्तिकाल में कौन सी व्यवस्था थी ? जिसके कारण भक्तिकाल का उदय हुआ ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भक्ति काल केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने का काल था । मुहम्मदबिन तुग़लक़ कुछ हद तक केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने में सफल रहा लेकिन उसकी मृत्यु के साथ ही उसका साम्राज्य भी एक छोटा राज्य ही रह जाता है । केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने के लिए लोदी वंश संघर्ष ही करता रहा । बाबर, हुमायूँ तथा शेरशाह भी केन्द्रीय सत्ता स्थापित नहीं कर पाए थे, हाँ अकबर ने केन्द्रीय सत्ता स्थापित करने में सफलता पायी । देश के लगभग सभी राजाओं ने अकबर और उसके उत्तराधिकारियों को अपना अगुआ मान लिया । केन्द्रीय सत्ता को स्थापित करने में जो संघर्ष था वही आम जनता को एक अवसर मिला कि वे अपने विचारों को भक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त कर सके । जब सभी सामंतो की दाढ़ी में आग लगी थी तो किसी को दूसरी तरफ़ देखने तक की फ़ुरसत ही कहाँ ? अकबर के बाद उसके वंशजों को 'शहंशाह-ए-हिन्द' मानने में किसी को दिक़्क़त नहीं हुई । भारतीय सामंतो के डर को दूर करते हुए मुगलों ने रोटी-बेटी का रिश्ता जोड़ा । मुगलों का कहना था कि उनको कुछ नहीं चाहिए बस आप उनकी अधीनता स्वीकार कर लें, आप कैसा शासन करते हैं, उससे उनका कोई मतलब नहीं ? तब स्वाभाविक था सभी सामंत आपस में लड़ना छोड़, अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने में ध्यान देने लगे, जो भी गतिविधियाँ सामंतो के अहम् को ठेस पहुँचाने की कोशिश करती उसका वे समूल विनाश कर देते थे और कोई काम या युद्ध न होने के कारण स्वयं को विलासिता में लिप्त रखते थे, क्योंकि अब उनके साम्राज्य पर कोई ख़तरा नहीं था अब वे अजेय मुग़लों के मातहत थे । सामंतों का मानना था कि उन पर होने वाला हमला मुग़लों को हराने के बाद ही संभव था जो की असंभव है । अब सभी सामंत अपने दरबार में अपनी हैसियत के अनुसार मनोविनोद के लिए कवि रखते थे :

"आगे के कवि रीझहैं, तौ कविताई, न तौ
राधा कन्हाई सुमिरन कौ बहानौ है ।"

रीतिकालीन कवि अपने आश्रयदाता के हिसाब से कविता करते थे और सामंतो का इन कवियों पर खूब प्रभाव पड़ा । बिहारी के यहाँ इसे उदारहण स्वरूप देख सकते हैं जहाँ उन्होंने गाँव के रहन-सहन के प्रति घृणा व्यक्ति की है -

"चल्यौ जाई, ह्याँ को करै हाथिनु को व्यापार ।
नहि जानहु यहि पुर बसै धोबी ओड़ कुम्हार ।।"

3. औपनिवेशिक भारत और आधुनिक नवजागरण

जब उत्तर भारत 'कहत, नटत, रीझत, खीझत, मिलत, खिलत, लजियात । भरे भवन मैं करत हैं , नैनन ही सों बात ।।' कर रहा था, उस समय यूरोपीय भारत में अपने व्यापार को स्थापित करने में लगे थे और मौका मिलते ही क्षेत्रीय शक्ति बन कर उभरे । जो हमारे साथ ही मध्यकालीन बेड़ियाँ तोड़ना शुरू किये थे (यूरोपीय पुनर्जागरण और भक्तिकाल का समय एक ही था) बाद में हम उसी सामंती मकड़जाल में फ़स गए अर्थात् अपनी यथास्थिति से ही समझौता कर लिए । यूरोपीय उस दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहे और जब तक हम जागते, उसके पहले हम अपने को यूरोपियों के अधीन पाया ।

रामविलास शर्मा जी का मानना है कि भक्तिकाल के बाद हिन्दी साहित्य में रीतिकाल का आना एक ट्रेजडी है, इससे भी बड़ी ट्रेजडी अंग्रेजों का भारत में आगमन है । रीतिकाल का जो साहित्यिक रूप हम देखते हैं वह सामंती मनोवृत्ति का आईना है, जबकि आम जन अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत रहा । अब यूरोपीय कंपनियाँ इनके हक़ छीन रही थी, भारतीय व्यापारी अपना दुखड़ा किससे कहें ? अंग्रेज ही अब रक्षक और भक्षक दोनों थे । जिस सामंतवाद को लगातार चोट करते हुए संक्रमण स्थिति तक पहुँचाने वाले भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग, व्यापारी वर्ग अब एक नयी सामंती व्यवस्था के गुलाम हो गए ।

अंग्रेजों का भारत अभियान इसलिए भी सफल रहा कि भारत में केन्द्रीय सत्ता का अभाव था और भारत की क्षेत्रीय शक्तियाँ केन्द्रीय शक्ति बनने में असफल रही, जबकि भारत में अंग्रेजों ने भी अपने को एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में स्थापित किया था, पर बाद में वे

केन्द्रीय शक्ति के रूप में उभरकर आये । रामविलास शर्मा अंग्रेजों को भारत के आधुनिक युग का प्रारंभकर्ता नहीं मानते, वे लिखते हैं, “आधुनिकता अंग्रेजी राज की देन नहीं है; उसका विकास इस राज्य के विरुद्ध संघर्ष के दौरान हुआ । वह अंग्रेजी साहित्य की नक़ल नहीं है; वह पुराने साहित्य की सामंत विरोधी उपलब्धियों की बुनियाद पर विकसित हुई है । इस प्रसंग में वैष्णव कवियों पर रवीन्द्रनाथ की कविता और तुलसीदास पर निराला की कविता को याद कर लेना काफ़ी होगा । अंग्रेजी के अनेक साहित्यकारों ने हमारे लेखकों को प्रभावित किया पर ये लेखक स्वयं अर्द्धसामंती, अर्द्धपूँजीवादी व्यवस्था के विरोधी थे । इसमें बायरन और शेली जैसे कवियों ने खुलकर भारत में अंग्रेजी राज कायम करने का विरोध किया । भारतीय स्वाधीनता आंदोलन विश्व साम्राज्य-विरोधी क्रांति का अंग है; उसी तरह भारतीय साहित्य साम्राज्य-विरोधी विश्व साहित्य का अंग है ।”

रामविलास शर्मा भक्तिकालीन साहित्य को आधुनिक काल कहते हैं । क्योंकि यूरोप ने आधुनिक काल उस समय को माना है, जब से जाति का विकास होता है । भारत में जाति के विकास के काल को मध्य काल क्यों कहा जाये ? रामविलास शर्मा 19वीं सदी के नवजागरण और भक्तिकाल में अंतर बताते हुए लिखते हैं, “भक्ति आन्दोलन और 19वीं शताब्दी से आरंभ होने वाले नवजागरण का मुख्य अंतर यह है कि पहला जातीय निर्माण को व्यक्त करने वाला सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसका मुख्य स्वर सामंतवाद विरोधी तथा मानवतावादी है, दूसरा राष्ट्रीय स्वाधीनता का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसका मुख्य स्वर साम्राज्यवाद विरोधी तथा सामंतवाद विरोधी है ।”

3.1. सामाजिक-सुधार आंदोलनों की भूमिका

भारत में नवजागरण का प्रथम अग्रदूत राजा राममोहन राय को माना जाता है । वे समाज में व्याप्त सामंती कुरीतियों को दूर करने के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे । उन्हीं के सद्प्रयासों से सती प्रथा जैसे जघन्य अपराध को प्रतिबंधित किया गया । उन्होंने एकेश्वरवाद पर विशेष बल दिया, 1828 ई . में ‘ब्रह्म समाज’ की स्थापना इसी से संदर्भित है । वे स्त्री शिक्षा के पक्ष में थे, इसी को आगे बढ़ाने के लिए 1825 में ‘वेदांत कालेज’ की स्थापना की । इन्हें भारतीय पत्रकारिता का अग्रदूत भी माना जाता है । राजा राममोहन राय के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि “राजा राममोहन राय अपने समय में, सम्पूर्ण मानव समाज में एक मात्र व्यक्ति थे जिन्होंने आधुनिक युग के महत्त्व को पूरी तरह समझा । वे जानते थे कि मानव सभ्यता का आदर्श अलग-अलग रहने में नहीं बल्कि चिंतन और क्रिया के सभी क्षेत्रों में व्यक्ति तथा राष्ट्रों के आपसी भाईचारे में निहित है ।”

राजा राममोहन राय भारत में पुरानी शिक्षापद्धति के बिलकुल ख़िलाफ़ थे क्योंकि वे चाहते थे भारत जितनी जल्दी अर्थ आधारित शिक्षा को महत्त्व देगा उतनी ही जल्दी वह यूरोपियों से कँधे से कँधा मिलाकर चलेगा, उनके बाद के भी विचारक इस माँग को दोहराते रहे । मुक्तिबोध लिखते हैं, “कंपनी सरकार ने कलकत्ते में संस्कृत कालेज की स्थापना की, तो इसका विरोध करते हुए राजा राममोहन राय ने अपने स्मरण पत्र में सरकार से अनुरोध किया कि गणित, रसायनशास्त्र, प्राकृतिक दर्शन, शरीर रचनाशास्त्र तथा अंग्रेजी साहित्य पढ़ाने की तुरंत व्यवस्था होनी चाहिए । अंग्रेजी तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की माँग बढ़ती ही गयी । फलत: धीरे-धीरे अंग्रेजी स्कूल खुलते गये तथा क्रमश: पाश्चात्य ढंग की शिक्षा का प्रचार भारत में होता गया ।”

19वीं सदी के तीसरे दशक में ‘यंग बँगाल आन्दोलन’ ने बँगाली बुद्धिजीवियों को आंदोलित कर दिया था । इस आन्दोलन के प्रणेता एक नौजवान एंग्लो इन्डियन ‘हेनरी विवियन डेरोजियो’ थे । वे कलकत्ता के प्रसिद्ध हिन्दू कालेज के अध्यापक थे । अपने उग्र विचारों के कारण उनको कालेज से निकाल दिया गया । कुछ दिन बाद उनकी हैजा से असामयिक मृत्यु हो गयी । विपिन चंद्र अपनी किताब में लिखते हैं, “उसके अनुयायियों ने पुरानी और ह्रासोन्मुख प्रथाओं, कृत्यों और रिवाज़ों की घोर आलोचना की । वे नारी अधिकारों के पक्के हिमायती थे । उन्होंने नारी शिक्षा की माँग की किन्तु वे किसी भी आन्दोलन को जन्म देने में सफल नहीं हुए क्योंकि उनके विचारों को फलने-फूलने के लिए सामाजिक स्थितियाँ उपयुक्त नहीं थीं ।” वे आगे पुनः लिखते हैं “डेरोजियो आधुनिक भारत का शायद प्रथम राष्ट्रवादी कवि था । उदाहरण के लिए 1827 में उसने लिखा – “मेरे देश ! बीती हुई गरिमा के दिनों में तुम्हारे ललाट के चारों ओर एक सुन्दर प्रभा मंडल व्याप्त था और पूजा एक देवता के समान होती थी । वह गरिमा कहाँ है ? अब वह श्रद्धा कहाँ है ? आखिर गरुड़ के समान तुम्हारे पंखो को ज़ंजीर से जकड़ दिया गया है और तुम नीचे धूल में औंधे पड़े हो । तुम्हारे चरण को तुम्हारी विपन्नता की दुखद कहानी के सिवाय गूँथने के लिए कोई माला नहीं है !”

ऐसे ही राष्ट्र के प्रति उनके शिष्यों ने भी लिखा है । डेरोजियो के अनुयायियों के बारे में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी उन्हें “बँगाल में आधुनिक सभ्यता के अग्रदूत हमारे जाति के पिता” कहा, ‘जिनके सद्गुण उनके प्रति श्रद्धा पैदा करेंगे और जिनकी कमजोरियों पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया जाएगा’ ।”

आधुनिक भारत के निर्माण में ईश्वरचंद्र विद्यासागर का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने संस्कृत कालेज के द्वार ग़ैर ब्राह्मण छात्रों के लिए भी खोल दिये । इनका महत्त्वपूर्ण कार्य विधवा पुनर्विवाह को लोकप्रिय करना तथा कानूनी मान्यता भी दिलाना था । उनके विचारों के समर्थन में शांतिपुर के बुनकरों ने एक विचित्र प्रकार की साड़ी तैयार की जिसके किनारों पर एक गीत की पंक्ति रची गयी थी जिसमें कहा गया था “विद्यासागर चिरंजीवी हो।”

3.2. 1857, हिंदी नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना

हिन्दी के प्रमुख आलोचक और इतिहासविद डा. रामविलास शर्मा ने 1857 की क्रान्ति से हिन्दी नवजागरण की शुरूआत मानी है । वे यह मानने के पीछे, इस क्रांति के हिन्दी मानस पर पड़े अमिट प्रभाव को देखते हैं । 1857 की क्रांति और उसकी असफलता के बीच अंग्रेजों के तांडव ने तो पूरे हिन्दी क्षेत्र को आतंकित कर दिया । लेकिन इस आन्दोलन को राष्ट्रीय आन्दोलन कहना कुछ समझ में नहीं आता, यदि इस आन्दोलन को कोई नाम देना है तो जनान्दोलन कहना ठीक जान पड़ता है । क्योंकि 1857 की क्रान्ति में राष्ट्रीयता नहीं बल्कि क्षेत्रीयता थी इस क्रांति के नेता क्रांति में अपने स्वार्थवश अथवा जनता के दबाववश भाग लिए थे जैसे बहादुरशाह जफ़र को सेना ने जब तक शालीनता से कहा कि आप क्रांति के अगुआ बने, तब तक बहादुरशाह टालते रहे जब कुछ सैनिकों ने औपचारिक शिष्टाचार का उल्लंघन करके महल में घुस गये । तब उनके पास सैनिकों की बात न मानने का कोई तर्क ही नहीं था । नाना साहब इस क्रान्ति में शामिल इसलिए हुए क्योंकि अंग्रेज सरकार ने उनको पेंशन देने से साफ़ इंकार कर दिया था । झाँसी की रानी का नारा था कि 'मैं अपनी झांसी नहीं दूंगी' और उन्होंने अपनी प्रजा के दबाव में विद्रोह किया था । अंग्रेजों की भारतीय सैनिकों के प्रति विभेदीकरण की नीति थी, जिसके परिणाम स्वरूप 1857 की क्रांति हुई । इससे स्पष्ट पता चलता है कि क्रांतिकारियों में एकता नहीं थी । क्रांति की ख़िलाफ़त उत्तर भारत के सामंतों ने खुद की । इस आन्दोलन की असफलता से भारत ने बहुत कुछ सिखा है ।

सन् 1857 की क्रांति हिन्दी क्षेत्र में ही क्यों हुई इसका दायरा क्यों नहीं बढ़ पाया इन आदि प्रश्नों का जवाब हमें मुक्तिबोध के यहाँ मिल जाता है वे लिखते हैं, "बँगाल पूरी तौर से अंग्रेजों द्वारा कुचल दिया गया था; वहाँ ऐसे नये वर्ग निकल आये थे, जिनका सामान्य जन-समाज पर प्रभाव था । किसान जनता ने दुखों को स्थायी समझकर, उससे समझौता कर लिया था । पुराना सरदार सामंतवर्ग या तो अंग्रेजों से पूरा समझौता कर चुका था या उसे नष्ट कर दिया गया था ।...किन्तु उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों में जान बाकी थी । समाज का सर्वोच्च वर्ग अभी भी पुराना सरदार–सामंत वर्ग था । वह अंग्रेजों से असंतुष्ट था । उसी प्रकार सामान्य जनता भी क्षुब्ध थी । अंग्रेजों के एक गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने उनके साथ अन्याय किया था । इसलिए यह वर्ग बहुत क्षुब्ध था ।"

1857 की क्रांति की असफलता ने विचारकों को यह सोचने के लिए मज़बूर कर दिया कि अंग्रेजों की ख़िलाफ़त करने से पहले हमें अपनी स्वार्थपरता से ऊपर उठना होगा । उन्हीं विचारकों में स्वामी दयानंद सरस्वती, थियोसोफिकल सोसायटी, सर सैयद अहमद खां, भारतेंदु हरिश्चंद्र, विवेकानन्द तथा ज्योतिबा फुले और दक्षिण में 'वेद समाज' के संस्थापक चेबेंटी श्रीधरालु, कुंदुकुरी विरेशलिंगम पंतुलु और नारायण गुरु तथा महात्मा गाँधी आदि प्रमुख विचारक थे । मुक्तिबोध 1857 की क्रांति से ही आधुनिक भारत का उदय मानते हैं, वे लिखते हैं, "खून से लथपथ होकर ही क्यों न सही, भारत ने नए युग में प्रवेश किया । ज्यों ही वह नए प्रकाश में आया उसकी प्राचीन सांस्कृतिक गरिमा भी यूरोप में फ़ैल गयी । साथ ही भारतीय समाज–सुधारकों और विद्वानों का एक ऐसा नया दल सामने आया जिसने भारतीय क्रांति को और भी विकसित तथा प्रसारित किया ।"

वेदों के प्रति लगाव दयानंद सरस्वती को विरासत में मिला था, क्योंकि इनके पिता वेदों के अच्छे विद्वान थे और उन्होंने ही इनको वैदिक वाङ्मय, न्याय दर्शन पढ़ाया था । बाद में दयानंद 1860 में मथुरा पहुँचे और अपने गुरु विजयानंद से वेदों के शुद्ध अर्थ और वैदिक धर्म का विशद अध्ययन किया । दयानंद इस अध्ययन को मानवोपयोगी बनाने के उद्देश्य से 1875 में मुंबई में 'आर्य समाज' की स्थापना कर वैदिक धर्म को पुनःप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया ।

लाला लाजपत राय ने दयानन्द सरस्वती के बारे में लिखा है कि " स्वामी दयानंद को अपने जीवन में जितने निंदा वचनों तथा उत्पीड़न का निशाना बनना पड़ा उसका अंदाजा इसी एक तथ्य से लगाया जा सकता है की रूढ़िवादी हिन्दुओं ने उनकी जान लेने के अनेक प्रयास किये । उनकी हत्या के लिए हत्यारों को भाड़े पर लिया गया, उनके भाषणों तथा वाद-विवादों के बीच न केवल उन पर निषिद्ध वस्तुएँ फेंकी गई, बल्कि उनको ईसाईयों का भाड़े का प्रचारक, धर्म विरोधी, नास्तिक आदि-आदि कहा गया ।"

थियोसोफिकल सोसाईटी की स्थापना तो संयुक्त राज्य अमेरिका में मैडम एच. पी. ब्लावात्स्की तथा कर्नल ओल्काट द्वारा की गयी । यह संस्था भारतीय संस्कृति और परम्परा से बहुत प्रभावित थी और भारतीय संस्कृति का गुणगान विदेशों में भी करती थी । भारतीयों में खोया हुआ आत्मविश्वास जगाने में इस संस्था का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा । भारत में यह संस्था श्रीमती एनीबेसेंट के नेतृत्व में चलायी गयी हालाँकि भारत में इस आन्दोलन को अधिक सफलता नहीं मिली । भारत एनीबेसेंट को सामाजिक कार्यों के लिए हमेशा याद रखेगा । मुक्तिबोध भारतीय संस्कृति को महत्त्व देने वाले विद्वानों के बारे में लिखते हैं, "अब तक मिशनरियों ने यहाँ के संबंध में यूरोप में भ्रम का प्रचार कर रखा था । बैटिंक, आकलैंड, ग्रैंट और मैकाले सरीखे लोगों ने भी उन्हीं भ्रमपूर्ण बातों का समर्थन किया था । किन्तु वारेन हेस्टिंग, प्रिन्जेप, जोन्स, मिन्टो, विल्सन जैसे भी लोग थे जिन्होंने अपने अध्ययन द्वारा भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला । फलत: अंग्रेजों ने भारतीय विद्या का व्यापक अध्ययन शुरू हुआ । विलियम जोन्स ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' का अनुवाद किया ...उधर मैक्समूलर ने वेदों का अनुवाद किया ।"

सर सैयद अहमद खां मुस्लिमों में प्रमुख समाज सुधारक हुए । उन्होंने इस्लाम के एक मात्र धर्म ग्रन्थ को प्रमाणिक माना और मुस्लिमों को जागरूक करने के लिए एक पत्रिका निकाली 'तहजीब–उल–अखलाक' (सभ्यता और नैतिकता), जो उनके विचारों को जन–

जन तक पहुँचाने का माध्यम बनी । विपिन चन्द्र ने लिखा है, " उन्होंने कहा की धर्म के तत्त्व अपरिवर्तनीय नहीं हैं । धर्म अगर समय के साथ नहीं चलता तो जड़ हो जायेगा जैसा की भारत में हुआ है ।"

उन्होंने 1875 में पाश्चात्य ज्ञान एवं संस्कृति के केंद्र के रूप में 'मुहम्मडन एंग्लो ओरियंटल कालेज' की स्थापना की । वे मुसलमानों में व्याप्त पर्दा प्रथा, बहु विवाह तथा बात-बात पर तलाक देने के विरोध में थे । वे अपने आरम्भिक काल में हिन्दू–मुस्लिम के संबंध को सहयोगात्मक रूप में देखते थे लेकिन बाद में वे हिन्दू वर्चस्व की शिकायत करने लगे । फिर भी इस्लाम धर्म के सुधारक तथा शिक्षाविद् के रूप में उन्हें हमेशा याद किया जाता रहेगा । मुक्तिबोध सर सैयद अहमद खां के धार्मिक विचारों के बारे में लिखते हैं, "उन्होंने खुद लिखा है कि धर्म कोई राजनैतिक या राष्ट्रीय महत्त्व नहीं रखता । उन्होंने कहा 'क्या तुम एक ही देश में नहीं रहते ?' याद रक्खो कि हिन्दू और मुसलमान ये दो शब्द अपना-अपना धर्म बताने के लिए हैं । वैसे, सब लोग, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, या ईसाई जो भारत में रहते हैं, वे सब इस विशेष दृष्टि से एक ही राष्ट्र के अंग हैं ।"

रामविलास शर्मा 1857 की क्रांति को हिन्दी नवजागरण का पहला चरण और दूसरा चरण भारतेंदु युग को, तीसरा चरण द्विवेदी युग को और चौथा चरण निराला के साहित्य को मानते हैं । निराला के समकालीन प्रेमचन्द के यहाँ इनको नवजागरण नहीं दिखता यह इनकी कमजोरी है फिर भी हिन्दी में नवजागरण की अवधारणा इन्हीं की देन है जो प्रसंशनीय है । हिन्दी नवजागरण को रामविलास शर्मा ने अन्य भारतीय नवजागरण से भिन्न माना है । विश्व में घट रही घटनाओं से जब पूरा विश्व प्रभावित होता है तो हिन्दी का नवजागरण कैसे प्रभावित न हुआ होगा ? इस सन्दर्भ में इटेलियन विद्वान विको (1668-1744) का कथन याद हो आता है, "इतिहास का सम्बन्ध न केवल अतीत से होता है अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया है कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है और मनुष्य चाहे जिस युग का हो उसकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ एक सी रहती हैं।"

रामविलास शर्मा नवजागरण की अवधारणा यूरोप से लेते हैं और कहते हैं कि हिन्दी नवजागरण पर किसी का प्रभाव नहीं है । महात्मा गाँधी और नवजागरण के मतभेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "भारतेंदु हरिश्चंद से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक हिन्दी नवजागरण के सूत्र पुराने चर्खे-कर्घे वाले भारत का स्वप्न नहीं देखते । वे देश में आधुनिक उद्योग धंधो के विकास के पक्षपाती हैं । गांधीवादी विचारधारा से हिन्दी नवजागरण का यह मतभेद उल्लेखनीय है ।"

भारतेंदु हरिश्चंद पर बँगला साहित्य का गहरा प्रभाव था । वास्तव में भारतेंदु हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत हैं । उन्होंने अपने समय के समाज का अच्छी तरह अध्ययन किया है । इसका उदाहरण उनके चर्चित निबंध 'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है' में देखा जा सकता है जो यहाँ उद्धरणीय है, "इंग्लैण्ड का पेट कभी यों ही खाली था । उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ़ किया । क्या इंग्लैण्ड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मज़दूर, कोचवान आदि नहीं हैं ? ।...सिद्धांत यह है कि वहाँ के लोगों का एक छिन भी व्यर्थ न जाए । उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही बड़ा अमीर समझा जाता है । आलस यहाँ इतना बढ़ गया है कि मलूक दास ने दोहा ही बना डाला "अजगर करे न चाकरी ,पंछी करे न काम । दस मलूका कहि गए, सबके दाता राम ।।"

3.3. क्षेत्रीय सुधारक और जनजागरण

स्वामी विवेकानन्द योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे । इन्होंने अपने गुरु के नाम पर रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । रामकृष्ण के विचार के बारे में विपिन चन्द्र लिखते हैं कि "उन्होंने बार–बार इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर तक पहुँचने तथा मुक्ति पाने के कई मार्ग हैं और यह कि मनुष्य की सेवा ईश्वर की सेवा है, क्योंकि वह ईश्वर का ही मूर्तिमान रूप है ।"

विवेकानन्द ने अंग्रेजों द्वारा भारतीय संस्कृति के बारे में फैलाये जा रहे भ्रम को दूर ही नहीं करते बल्कि 1893 में शिकागो के अपने ऐतिहासिक भाषण में भारतीय संस्कृति की ओर दुनियाँ का ध्यान भी आकर्षित करते हैं । यह वह समय था जब यूरोपीय यह सिद्ध करने पर तुले थे कि भारत में कोई धर्म–संस्कृति नहीं है । 1893 में शिकागो में हो रहे विश्व धर्म संसद में वे भारत की ओर से अमेरिका गए थे, वहाँ इन्होंने हिन्दू धर्म को विश्व स्तर पर मान दिलाया और यूरोपीय विद्वान यह सोचने पर मज़बूर हो गए कि भारत में ईसाईयत का प्रचार करना ना समझी थी । वे युवाओं के लिए प्रेरणा हैं । उन्होंने युवाओं को प्रेरित करने के लिए 'योग', 'राजयोग', 'ज्ञान योग' जैसी किताबें लिखीं । वे हिन्दू धर्म की बुराईयों का भी खुलकर विरोध भी करते थे, "हमारे सामने ख़तरा यह है कि हमारा धर्म रसोई घर में न बंद हो जाए । हम अर्थात् हममें से अधिकांश न वेदांती हैं, न पौराणिक और न ही तांत्रिक । हम केवल 'हमें मत छुओ' के समर्थक हैं । हमारा ईश्वर भोजन के बर्तन में है और हमारा धर्म यह है कि 'हम पवित्र हैं, हमें छूना मत' अगर यह सब एक शताब्दी और चलता रहा तो हममें से हर एक व्यक्ति पागलखाने में होगा "

पश्चिम भारत में बड़े विचारक ज्योतिराव गोविन्दराव फुले (1827-1890) ने मध्यकालीन जबदी मानसिकता का विरोध किया । इन्होंने कन्याओं की शिक्षा के लिए स्कूल खोले । 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य दलित एवं पिछड़ी जातियों के लोगों के लिए समान अधिकार प्राप्त कराना था । 1876 में इन्हें पुणे नगर पालिका का सदस्य चुना गया । इन्होंने स्त्रियों की शिक्षा के लिए अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को पढ़ाया जहाँ दोनों मिलकर स्त्री शिक्षा और समानता के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे । सावित्रीबाई को पहली महिला अध्यापिका होने का गौरव भी मिला है ।

'ब्रह्म समाज' से प्रेरित दक्षिण भारत में 'वेद समाज' की स्थापना 1864 में की गयी, जिसके अगुआ चेबेंटी श्रीधरालु थे । वे विधवा पुनर्विवाह तथा स्त्री शिक्षा के हिमायती थे । दक्षिण में सुधार आन्दोलन के एक और प्रमुख नेता कुंदुकूरी विरेशलिंगम पंतुलु (1848 से 1911) थे जिन्हें आधुनिक तेलुगु साहित्य का जनक माना जाता है । पहली बार उन्होंने तेलुगु साहित्य में समाज सुधार संबंधी रचना किया । उन्होंने ही तेलुगु में आधुनिक परिभाषा के अनुरूप उपन्यास, नाटक, प्रहसन, जीवनी, आत्मकथा तथा निबंध और अनुवाद का सूत्रपात किया ।

पंतुलु ने स्त्री उद्धार हेतु 'विवेक वर्द्धनी' नामक मासिक पत्रिका निकाली । उन्होंने पत्रिका में स्मृति और पुराणों के उद्धरण दे देकर लोगों को समझाया कि 'आज से ही नहीं बहुत पहले से विधवा विवाह प्रचलित था ।' उन्होंने 'वितन्तु (विधवा) –शरणालयम' की स्थापना की साथ ही इस संस्था को तीस हजार का चंदा भी दिया । उन्होंने स्त्री शिक्षा पर भी बल दिया । जिससे अंग्रेज सरकार ने उन्हें 1893 में रावबहादुर की उपाधि से सम्मानित किया ।

पंतुलु जी ने तेलुगु साहित्य में परम्परा से चली आ रही रचना प्रक्रिया को अपनाकर 'शुद्धान्ध्र निरोष्ठय-निर्वचन-नैशधमु' और 'शुद्धान्ध्रभारत–संग्रहमु' आदि रचनाओं का सृजन किया है । जब उन्होंने अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया तब वे सरल व जनग्राह्य भाषा की आवश्यकता पर विचार किया । जिससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "प्रौढ़ एवं सुदीर्घ समासों तथा शब्द चित्रों से पूर्ण कृतियाँ सर्व साधारण जनता के लिए लाभदायक नहीं हैं । सरल गद्य कृतियाँ ही विशेष उपयोग-कारी सिद्ध हो सकती है । तेलुगु भारती की उस समय परिचय देते हुए उन्होंने 'सरस्वती-नारद-संवाद' नामक खंड काव्य लिखा और साथ ही चिन्नय सूरि द्वारा प्रवर्तित गद्य शैली में पंतुलु जी ने 'संधि-विग्रह' की रचना की । इनकी शैली प्रौढ़ होने के कारण गद्य को अधिक स्पष्ट, सुबोध, ज्ञानवर्धक और सरल बनाने में समर्थ है । यहीं से विरेशलिंगम के जीवन में नया अध्याय प्रारंभ होता है ।"

श्री पंतुलु ने अंग्रेजी, संस्कृत के कई ग्रंथो का तेलुगु में अनुवाद किया । उन्होंने स्त्री के उत्थान के लिए कई ग्रंथो की रचना की जैसे 'सत्यवती चरित्र', 'चन्द्रमती चरित्र', 'सत्य संजीवनी', 'सतीमणी-विजयमु', 'भानुमती-कल्याण' इस प्रकार उन्होंने कुल 130 ग्रंथों की रचना की जिससे तेलगु साहित्य में उन्हें 'गद्य ब्रह्म' तथा 'गद्य–तिक्कना' के नाम से अभिहित किया जाता है ।

केरल के नारायण गुरु का जन्म 1854 में एझवा जाति में हुआ था, जो अछूत मानी जाती है । वे अछूत के दर्द से परिचित थे, अछूतों को मंदिर में प्रवेश न मिलने के कारण इनका पहला कार्य ऐसे मंदिर की स्थापना करना था जिसमें ईश्वर या मूर्ति का विशेष स्थान नहीं था जहाँ पत्थर पर उन्होंने ये शब्द खुदवाए थे 'इस स्थान पर सभी लोग बिना किसी जातिभेद तथा धर्मभेद के बंधुभाव से रहते हैं ।' वे जाति धर्म पर आधारित भेद को निरर्थक मानते थे, इसी का प्रचार-प्रसार करने के लिए 1903 में 'श्री नारायण धर्म परिपालम योगम' संस्था की स्थापना की ।

3.4. गांधी का मानवतावादी प्रतिपक्ष

महात्मा गाँधी अपने विचारों और कार्यों द्वारा भारत ही नहीं पूरे विश्व में 'काले' पिछड़े और मानवतावादियों के आदर्श हैं । महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में तत्कालीन भारतीय लोगों में उठ रहे विभिन्न सवालों का जवाब दिया है और अपनी प्रतिबद्धता भी जाहिर की है । इस किताब में गाँधी जी ने अपने समय के लगभग सभी प्रश्नों का उत्तर दिया है । काँग्रेस के नेताओं पर लगे आक्षेप कि लोग काँग्रेस को अंग्रेजों का राज्य निभाने का साधन मानते हैं ? इस पर गाँधी जी ने काँग्रेस के पुराने नेताओं और उनके द्वारा किए गए कार्यों को बताया कि दादा भाई नौरोजी के धन निकासी संबंधी विचार ने पूरे भारत का ध्यान आकर्षित किया और गोखले ने 20 सालों से अपने लोगों को जगाने के लिए ग़रीबों में जीवन बिताया । गाँधी जी ने स्पष्ट कहा है कि यदि आप प्रत्येक अंग्रेज से घृणा करेंगे तो आप स्वराज से दूर होते चले जायेंगे ।

महात्मा गाँधी ने 'बंग-भंग' आंदोलन को नींद से जागे हुए की अंगड़ाई कहा है । उन्होंने बताया है कि मिस्टर ह्यूम हमेशा से ही चाहते थे कि भारतीयों में असंतोष का भाव जगाया जाए तभी ये अपने अधिकार की माँग करेंगे । महात्मा गाँधी ने इस असंतोष को सही बताया है पर वे हिंसा के ख़िलाफ़ थे ।

महात्मा गाँधी ने पाठक द्वारा अंग्रेजों को भारत से भगाने वाले प्रश्न का जवाब देते हुए कहते हैं कि यदि अंग्रेज भारत छोड़कर चले जाएंगे तो आपकी सारी स्थिति परिस्थिति ठीक हो जाएगी । अंग्रेज क्यों भारत छोड़कर चले जाएं ? तो पाठक कहता है पूरी भारतीय संपत्ति विदेश में भेज रहे हैं । गाँधी जी ने कहा कि यदि ये ऐसा न करे तो । पाठक मानने को तैयार नहीं होता कि अंग्रेज जैसा बाघ अपनी प्रवृत्ति को कैसे छोड़ सकता है ?

महात्मा गाँधी अपने देश को कनाडा जैसे देश बनाने को कहा तो पाठक झट से तैयार हो गया। गाँधी जी ने कहा कि कनाडा बनने के लिए गोला बारूद की ज़रूरत होगी । गाँधी जी आगे कहते हैं कि "मतलब यह हुआ कि आप हिन्दुस्तान को अंग्रेज बनाना चाहते हैं । और हिन्दुस्तान जब अंग्रेज बन जाएगा तब वह हिन्दुस्तान नहीं कहा जाएगा, लेकिन सच्चा इंगलिस्तान कहा जायेगा । यह मेरी कल्पना का स्वराज्य नहीं ।"

आधुनिक औद्योगिक क्रांति से जन जीवन की सुख-सुविधाओं में हुए इजाफे और अपने देश को ताकतवर बनाने की होड़ में बन रहे अत्याधुनिक हथियारों को गाँधी जी ने मानव अस्तिव के लिए ख़तरा बताया है । उन्होंने लिखा है, "यह सभ्यता दूसरों का नाश करने

वाली है और खुद नाशवान है । इससे दूर रहना चाहिए और इसलिए ब्रिटिश और दूसरी पार्लियामेंट बेकार हो गई हैं । ब्रिटिश पार्लियामेंट अंग्रेज प्रजा की गुलामी की निशानी है, यह पक्की बात है ।"

महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश पार्लियामेंट को बांझ और वेश्या कहा है क्योंकि पार्लियामेंट मंत्री परिषद के अधीन होती है । वहाँ अक्सर अपने स्वार्थपूर्ति के लिए कानून बनाए और रद्द किए जाते हैं । संसदीय देश का एक अख़बार एक विषय को बहुत गंभीर बताएगा तो दूसरा उसे बहुत छोटी बात बताता है । इसे राजनेता अपने लाभ के लिए भुनाता है । गजानन माधव मुक्तिबोध ने गाँधी जी के बारे में लिखा है, "पहली बार भारत के इतिहास में करोड़ों भूखे जनों को महत्त्व देने वाला, इनका सगा बननेवाला, एक व्यक्ति सम्मुख आया, जिसने उसी ग़रीब दबी-कुचली जनता को नैतिक साहस प्रदान करके क्या का क्या बना दिया ! उस नैतिकतापूर्ण जन-शक्ति के आघात से, ब्रिटिश साम्राज्य चूर–चूर हो गया । नए भारत के उस प्रणेता की मृत्यु भी उसी शहीदाना तरीके से हुई । बिस्तर पर मरने या चलते हुए हार्टफेल होने के बजाय, वह महान आत्मा हमारा राष्ट्रपिता रामनाम का पाठ करते हुए एक तुच्छ हिन्दू सम्प्रदायवादी की गोली का शिकार हुआ !"

4. यूरोपीय और भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

भारत में नवजागरण के संघर्ष में कई सदियाँ गुज़र गयी । यहाँ सामंतवाद का अब तक ख़ातमा न होने का बड़ा कारण है, कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था । भारत का बड़ा समूह आज भी इस व्यवस्था में ही जीवन यापन करने के लिए अभिशप्त है । भारत के हिन्दी क्षेत्र जो अब भी पिछड़े राज्यों में शुमार हैं, इसका मुख्य कारण है कृषि पर आधारित जीवन यापन । यहाँ के लोग अब भी दक्षिण भारत के राज्यों की अपेक्षा कम उद्यमी हैं । यहां प्रेमचंद की परंपरा के मानने वाले अधिक हैं । जिस खेती ने होरी का पूरा जीवन नरक बना दिया है, फिर भी होरी गोबर की चाय की दुकान को अपनी हेठी समझता है और कहता है 'खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में नहीं ।'

यूरोप के नवजागरण को विद्वानों ने चार सदियों का संघर्ष माना है जबकि भारत के नवजागरण को मुश्किल से एक सदी का संघर्ष कहा । यह गलत है, भारतीय नवजागरण की शुरूआत छठी शताब्दी से हुई है और इस उद्देश्य को पाने के लिए भारतीय समाज को 14 सदियाँ लगी । 14 सदियाँ लगने के पीछे बड़ा कारण वर्ण व्यवस्था के आधार पर समाज का विघटन, यह विघटन ही निम्न आयवर्ग के तबके को इस तरह बाँट रखा था कि ये कभी भी एक न हो सके, न हुए भी ।

शताब्दियों से चल रहे संघर्ष में क्या ऐसा कोई समय नहीं आया होगा, जब भारत की आम जनता अपने को पहले से बेहतर स्थिति में पायी हो ? ऐसे कई मौके आये और प्रतिक्रियावादियों की भेंट चढ़ गए । अच्युतानंद मिश्र अपने एक लेख में क्रांति के असफल हो जाने वाली स्थिति के विषय में लिखते हैं, "शोषितों का संघर्ष जब किसी क्रांतिकारी प्रक्रिया को जन्म देता है तो उनका आत्म नए सिरे से रूपांतरित होता है । इस रूपांतरण की प्रक्रिया के साथ-साथ समाज की चेतना भी रूपांतरित होती है । लेकिन क्रांति के पश्चात् जब पराजय का सामना शोषितों को करना पड़ता है तो ऐसी स्थिति में शोषितों को 'आत्म विघटन' की स्थिति से गुजरना होता है । क्या इस 'आत्म विघटन' के बाद सर्वहारा उसी चेतना के स्तर पर खुद को और समाज को ला पाता है जहाँ से उसने आरंभ किया था ? क्या इस पराजय के बाद जो दमन की प्रक्रिया तीव्र होती है वह शोषितों को कहाँ ले जाती है ?"

अंततः हम कह सकते हैं कि नवजागरण का संघर्ष मेहनतकश और स्त्री वर्ग का संघर्ष है । जब तक सबको उनकी रुचि के आधार पर कार्य नहीं करने दिया जा रहा था, तब तक मानव समाज का विकास भी अवरुद्ध रहा जैसे ही रुचि और योग्यता के आधार पर कार्य किया जाने लगा, समाज का जीवन स्तर तेजी से बदला । अब सभी स्त्रियों को बराबर का हक़ मिला तो है, पर कानून के काग़ज़ों पर । मानवतावाद तब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा, जब तक सभी इंसानों को बराबर का हक़ नहीं मिल जाता है ।

नवजागरण की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं, "किसी देश या उसके प्रदेश के सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन को हम नवजागरण कहते हैं । इसमें सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के प्रयत्न शामिल हैं । शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति को बदलने के प्रयत्न नवजागरण के अंग है । धार्मिक सुधार, अंधविश्वासों के विरुद्ध प्रचार नवजागरण के अंतर्गत हैं ही । स्वाधीनता आन्दोलन विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चलाया हुआ राजनीतिक आन्दोलन है । वह नवजागरण का एक भाग है, उसका पर्याय नहीं । वह नवजागरण को प्रेरित कर सकता है, उसमें घुल-मिल सकता है पर उसका स्थान नहीं ले सकता है ।"

निष्कर्ष

यूरोपीय और भारतीय नवजागरण का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि दोनों प्रक्रियाओं का मूल लक्ष्य मनुष्य की गरिमा, विवेक और सामाजिक सक्रियता को प्रतिष्ठित करना था, किंतु उनकी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अलग थीं। यूरोप में पुनर्जागरण ने मध्यकालीन चर्च-नियंत्रण, सामंती बंधनों और ज्ञान पर एकाधिकार के विरुद्ध मानवतावादी दृष्टि विकसित की। इटली के नगरों, प्राचीन ग्रंथों की पुनर्खोज, कला-साहित्य, विज्ञान और मुद्रण ने उस चेतना को व्यापक बनाया। भारतीय संदर्भ में नवजागरण की प्रक्रिया अधिक दीर्घ और बहुस्तरीय रही। आलवार-नयनारों से लेकर सिद्धों, नाथों, रामानुजाचार्य, रामानंद, कबीर और अन्य संतों तक लोकधर्म, समानता, श्रम और जनभाषा के पक्ष में निरंतर प्रतिरोध दिखाई देता है। यह धारा जाति-आधारित असमानता, पुरोहितवादी वर्चस्व और सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती देती रही।

उन्नीसवीं सदी में सामाजिक-सुधार आंदोलनों ने इस चेतना को शिक्षा, स्त्री-अधिकार, विधवा-विवाह, जाति-सुधार और राष्ट्रीय आत्मसम्मान से जोड़ा। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती, सर सैयद अहमद खाँ, स्वामी विवेकानंद, ज्योतिराव फुले, पंतुलु और नारायण गुरु जैसे व्यक्तित्वों ने अपने-अपने क्षेत्र में परिवर्तन की दिशा दी। गांधी ने आधुनिक सभ्यता, औपनिवेशिक शोषण और हिंसा की आलोचना करते हुए स्वराज को नैतिक, मानवीय और जनकेंद्रित अर्थ प्रदान किया।

अतः नवजागरण को किसी एक काल, वर्ग या विचारधारा तक सीमित नहीं किया जा सकता। यह सामाजिक कुरीतियों के प्रतिरोध, शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन, ज्ञान के लोकतंत्रीकरण, लोकभाषा की प्रतिष्ठा और मानवीय समानता की सतत प्रक्रिया है। आज भी इसकी प्रासंगिकता इसलिए बनी हुई है कि विधिक समानता के बावजूद सामाजिक असमानताएँ, लैंगिक भेद और वंचना पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं। नवजागरण की मानवीय चेतना इन चुनौतियों के प्रति संवेदनशील, विवेकपूर्ण और न्यायोन्मुख समाज निर्माण की प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से नवजागरण की विरासत को वर्तमान शिक्षा, साहित्य और सार्वजनिक जीवन में आलोचनात्मक विवेक, सह-अस्तित्व तथा लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व के आधार के रूप में समझना आवश्यक है। यही इसकी स्थायी सामाजिक उपयोगिता और बौद्धिक शक्ति है।

संदर्भ सूची

[1]. आलोचना, अप्रैल–जून 2007, पृष्ठ सं. 23
[2]. आलोचना, अप्रैल-जून 2007, पृष्ठ सं. 22
[3]. आलोचना, अप्रैल-जून 2007, पृष्ठ सं.19
[4]. आलोचना, अप्रैल–जून 2007, पृष्ठ सं. 20
[5]. आलोचना, अप्रैल–जून 2007, पृष्ठ सं. 21
[6]. लईक अहमद , ‘आधुनिक विश्व का इतिहास’- पृष्ठ सं.23
[7]. NCERT, कक्षा 12 ‘भारतीय इतिहास के कुछ विषय भाग-2’, पृष्ठ सं.146
[8]. के दामोदरन, ‘भारतीय चिंतन परंपरा’, पृष्ठ सं. 261
[9]. संपा. डॉ. नगेंद्र, ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’, पृष्ठ सं. 60
[10]. आचार्य रामचंद्र शुक्ल , ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’- पृष्ठ सं.13
[11]. रामविलास शर्मा, ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ’- पृष्ठ सं.29
[12]. रामविलास शर्मा, ‘हिन्दी जाति का साहित्य’ - पृष्ठ सं. 14-15
[13]. आलोचना, अक्टूबर –दिसंबर 2008, पृष्ठ सं.20
[14]. आलोचन, अक्टूबर –दिसंबर 2008, पृष्ठ सं.26
[15]. आलोचना, अक्टूबर –दिसंबर 2008, पृष्ठ सं. 26
[16]. इग्नू पाठ्य क्रम –उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन में कबीर और उनके निर्गुण पंथ की स्थिति –डॉ.लल्लन राय
[17]. सं. नेमिचंद्र जैन, ‘मुक्तिबोध रचनावली’ 05 पृष्ठ सं.293
[18]. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, ‘हिन्दी साहित्य का इतिहास’ पृष्ठ सं.40
[19]. नेमिचंद्र जैन, ‘मुक्तिबोध रचनावली’ 05 पृष्ठ सं.-293-294
[20]. नेमिचन्द्र जैन ‘मुक्तिबोध रचनावली’ 05, पृष्ठ सं.292
[21]. विपक्ष (पत्रिका), अंक 9 सन् 1995, पृष्ठ सं.42
[22]. बच्चन सिंह, ‘हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास’, पृष्ठ सं. 121
[23]. इग्नू एम ए पाठ्यक्रम, भक्ति आन्दोलन की क्रांतिकारिता बनाम जनवादी चिंतन धारा की विरासत –डा. लल्लन राय
[24]. आ. रामचंद्र शुक्ल, ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’, पृष्ठ सं. 114
[25]. विपक्ष, अंक 9 सन् 1995 पृष्ठ सं.37
[26]. रामविलास शर्मा, ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ’ –पृष्ठ सं.35
[27]. सं. नेमिचन्द्र जैन ‘मुक्तिबोध रचनावली’ भाग छः पृष्ठ सं.534
[28]. ओमप्रकाश वाल्मीकि, सदियों का संताप, पृष्ठ सं. 13

chaitanya samvad
Conscious Conversations | Meaningful Connections

[29]. संपा. डॉ. नगेंद्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ सं. 258
[30]. बच्चन सिंह, 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास', पृष्ठ सं. 216
[31]. रामविलास शर्मा, 'हिन्दी जाति का साहित्य' -पृष्ठ सं.151
[32]. रामविलास शर्मा, 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण'- पृष्ठ सं.29
[33]. विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास (ncert) कक्षा 12 पृष्ठ सं.87
[34]. सं. नेमिचंद्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग -छ:, पृष्ठ सं.557
[35]. विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' -पृष्ठ सं.121
[36]. विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास'- पृष्ठ सं.123
[37]. विपिन चंद्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.125
[38]. सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं.552
[39]. सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं. 558
[40]. विपिन चंद्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' - पृष्ठ सं.227
[41]. सं.नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं.558
[42]. विपिन चन्द्र 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.222
[43]. सं. नेमिचन्द्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छह-पृष्ठ सं. 578
[44]. सं. डॉ नगेन्द्र, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' -पृष्ठ सं.21
[45]. डॉ. रामविलास शर्मा, 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' -पृष्ठ सं 179
[46]. भारतेंदु हरिशचंद्र 'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है' www.Hindisamay.com/content/4725/
[47]. विपिन चन्द्र, 'आधुनिक भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.218
[48]. विपिन चन्द्र, 'आधुनिक 'भारत का इतिहास' पृष्ठ सं.219
[49]. श्री बाला शौरि रेड्डी, 'तेलुगु साहित्य का इतिहास' पृष्ठ सँ 204,05 द्वितीय संस्करण 1972 ।
[50]. महात्मा गाँधी, 'हिन्द स्वराज'- प्रकाशक -शिक्षा भारती , नई दिल्ली पृष्ठ सं. 21
[51]. महात्मा गाँधी 'हिन्द स्वराज' प्रकाशक -शिक्षा भारती , नई दिल्ली पृष्ठ सं. 27
[52]. सं. नेमिचंद्र जैन, 'मुक्तिबोध रचनावली' भाग छ: पृष्ठ सं. 572
[53]. पहल, अंक 107 –पृष्ठ सं.-21
[54]. रामविलास शर्मा, 'स्वाधीनता संग्राम : बदलते परिप्रेक्ष्य'- पृष्ठ सं.121

Cite this Article:

डा. नागेन्द्र प्रसाद सिंह पटेल . (2026). यूरोपीय और भारतीय नवजागरण. Chaitanya Samvad Interdisciplinary Journal of Research, 2(3), 27–40.
Doi: *https://doi.org/10.65250/chaitanyasamvad.v2i3.5*
Journal URL: *https://chaitanyasamvad.com/*

This work is licensed under a Creative Commons Attribution-NonCommercial 4.0 International License.

Disclaimer/Publisher's Note: *The opinions, interpretations, and information presented in this article are the sole responsibility of the author(s). The publisher and editorial team shall not be held responsible for any inaccuracies, copyright-related concerns, legal claims, or consequences resulting from the publication or use of this content.*